DSSSB PRT, TGT & PGT

Part(A+B)

SCHOLAR BATCH

हिन्दी

हिन्दी साहित्य (आदिकाल)

LIVE 05-06-2024 09:00 AM

आदिकाल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में विक्रम संवत् 1050 से लेकर 1375 तक के कालखण्ड को 'आदिकाल' कहा जाता है। मिश्र बन्धुओं ने इसे 'आदिकाल' कहा क्योंकि हिन्दी साहित्य की दृष्टि यह प्रारम्भिक कालखण्ड रहा। इस काल में सिद्धों की वाणी तथा सामन्तों की स्तुति की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर पण्डित 'राहुल सांकृत्यायन जी' ने इसे सिद्ध सामन्त युग कहा तथा द्विवेदी जी ने इसे 'बीज वपन काल' कहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने इस युग में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथा काल' कहा। राजसभाओं में सुनाई जाने वाली नीति, श्रृंगार आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीर रस के पद छप्पय में। राजश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरो को उत्साहित किया करते थे। इसी कारण यह काल "वीरगाथा काल" कहा जाता है।

आदिकाल में मुख्यत: चार प्रकार के साहित्य प्राप्त होता हैं-

- ❖ बौद्ध, नाथ, सिद्ध तथा जैन मुनियों की उपदेशमूलक रचनाएँ
- ❖ चारण-चरित काव्य अथवा रासों वीर काव्य
- ❖ लौकिक रस से अनुप्रणित अन्य रचनाएँ
- ❖ अन्य

आदिकालीन साहित्य का काव्य-यात्रा देखते समय तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना जरूरी हो जाता है, तो इस प्रकार है-

आदिकाल की काव्य धाराएँ

जैन साहित्य, नाथ साहित्य, रासो काव्य, सिद्ध काव्य एवं लौकिक साहित्य तथा गद्य रचनाएँ आदिकाल के आधार स्तम्भ रहें, जो इस प्रकार हैं-

सिद्ध साहित्य

भारतीय धर्म साधना में सिद्धों का प्रादुर्भाव 8वीं शती के आसपास माना जाता है। सिद्ध सम्प्रदाय वस्तुत: बौद्ध धर्म की विकृति है। ईसा की प्रथम शताब्दी तक आते-आते बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो शाखाओं में विभक्त हो गया। हीनयान केवल विरक्तों और सन्यासियों को आश्रय देता था जबकि महायान के द्वार सबके लिए खुले थे। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, गृहस्थ-सन्यासी सबको निर्वाण तक पहुँचने का दावा महायान शाखा का था।

सिद्धों की संख्या चौरासी बताई जाती है। इनका समय 797 ई. से 1257 ई. तक माना गया है। ये सिद्ध अपने नाम से पीछे 'पा' जोड़ते थे जैसे- लुईपा, सरहपा, शबरपा आदि। सिद्ध प्रायः अशिक्षित एवं हीन जातियों में से थे। इन्होंने स्त्री सेवन को अपनी साधना का अंग बना लिया था और इस प्रकार धर्म तथा अध्यात्म की आड़ में नारी भोग किया। सिद्ध साहित्य अर्द्धमागधी अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है। यह भाषा वस्तुतः हिन्दी और अपभ्रंश का मिला जुला रूप है। सिद्धों की रचनाएँ मूलतः उपदेश परक, नीतिपरक एवं रहस्यपरक हैं। इनकी कविता में शान्त और शृंगार रस की प्रधानता होती है। कुछ प्रमुख सिद्ध कवि और उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं-

सरहपा

ये सरहपाद, सरोजवज्ज्र, राहुलभद्र आदि कई नामों से प्रख्यात हैं। जाति से ये ब्राह्मण थे। इनके रचनाकाल के विषय में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। राहुल जी ने इनका समय 769 ई. माना है, जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रन्थ बताए जाते है।

कुक्कुरिपा

इनका जन्म कपिलवस्तु के एक ब्राह्मण वंश में माना जाता है। इनके जन्मकाल का पता नहीं चल सका है। चर्पटीया इनके गुरु थे। इनके द्वारा रचित सोलह ग्रन्थ माने जाते हैं। ये भी सहज जीवन के समर्थक थे। इनकी कविता इस प्रकार है-

हांउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ।
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एथु बाहाम सो एथु नाहिं ॥

इन प्रमुख सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवि भी जन-भाषा में अपनी वाणी का प्रचार पद्य में करते थे, किन्तु उनमें कवित्व का उतना अंश नहीं, जिसके आधार पर उन्हें साहित्य के विकास में योगदाता माना जा सके। जिन कवियों की पहले चर्चा की गई है, उनका साहित्य ही हिन्दी के सिद्ध-साहित्य के लिए गौरव का विषय है। इन कवियों ने हिन्दी साहित्य में कविता की, जो प्रवृत्तियाँ आरम्भ की, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा। रूढ़ियों के विरोध का अक्खड़पन, जो कबीर आदि की कविता में मिलता है, इन सिद्ध कवियों की देन है। योग साधनां के क्षेत्र में भी इनका प्रभाव पहुँचा। सामाजिक जीवन के जो चित्र उभरे, वे भक्तिकालीन काव्य के लिए सामाजिक चेतना की पीठिका बन गए। कृष्ण-भक्ति के मूल में जो प्रवृत्ति मार्ग हैं, उसकी प्रेरणा के सूत्र भी हमें इनके साहित्य में मिलते हैं।

हैं, जिनमें से 'दोहाकोश' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया है तथा गुरु सेवा को महत्त्व दिया है। ये सहज भोग-मार्ग से जीव को महासुख

की ओर ले जाते हैं। इनकी भाषा सरल तथा गेय है एवं काव्य में भावों का सहज प्रवाह मिलता है। जैसे-

नाद न बिन्दु न रवि ने राशि मण्डल,
चिअराअ सहाबे मूकल।
अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक,
निअहि बोहिमा जाहु रे लांक।
घथेरे काकाण मा लोउ दापण,
अपणे अपा बुझतु निअन्यण।

सरहपा की इस कविता से स्पष्ट है कि उनकी भाषा तो हिन्दी ही रही है, केवल उस पर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव है। भाव और शिल्प की जो परम्परा सन्त-साहित्य में जा कर नए रूप में उभरी, उसका बीज रूप सरहपा के काव्य में द्रष्टव्य है।

शबरपा

इनका जन्म क्षत्रिय कुल में 780 ई. में हुआ था। सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। शबरों का-सा जीवन व्यतीत करने के कारण ये शबरपा कहे जाने लगे। 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ये माया-मोह का विरोध करके सहज जीवन पर बल देते हैं और उसी को महासुख की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है

'हेरि ये मेरि तइला बाड़ी खसमें समतुला
बुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।
तइला वाड़िर पासेर जोहणा बाड़ी ताएला
फिटेलि अंधारि रे आकाश फुलिआ।।

लुड़पा

ये राजा धर्मपाल के शासनकाल में कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुए थे। शबरपा ने इन्हें अपना शिष्य बनाया था। इनकी साधना का प्रभाव देख कर उड़ीसा के तत्कालीन राजा तथा मन्त्री इनके शिष्य हो गए थे। चौरासी सिद्धों में इनका सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। इनकी कविता में रहस्य भावना की प्रधानता है। जैसे-

क्राआ तरूवर पंच विडाल,

चंचल चीए पड़ठो काल।

दिट करिअ महासुह परिमाण,

लुइ मरमइ गुरु पूच्छि अजाण ॥

डोम्भिपा

मगध के क्षत्रिय वंश में 840 ई. के लगभग इनका जन्म हुआ था। विरूपा से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनके द्वारा रचित इक्कीस ग्रन्थ बताए जाते हैं, जिनमें 'डोम्बिगीतिका', 'योगचर्या', 'अक्षर द्विकोपदेश' आदि विशेष प्रसिद्ध है।

श्रावकाचार

देवसेन नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य ने 933 ई. में इस काव्य की रचना की थी। ये एक अच्छे कवि तथा उच्च कोटि के चिंतक थे। इन्होंने अपभ्रंश में भी 'दब्ब-सहाव- पयास' नामक काव्य लिखा था। इनके द्वारा लिखित 'श्रावकाचार' 250 दोहों में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है।

इस रचना 'दोहा' छन्द में हुई है। उदाहरण इस प्रकार है-

जो जिण सासण भााषिउ, सो मइ कहियउ सारू।
जो पालइ सइ भाउ करि, सो सरि पावर पारू ।।

रासो साहित्य

जैन-साहित्य के सन्दर्भ में यह संकेत किया जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचित जैन 'रासकाव्य' वीरगाथाओं के रूप में लिखित रासो काव्यों से भिन्न है। दोनों की रचना शैलियों का अलग-अलग भूमियों पर विकास हुआ है। जैन-रासकाव्यों में धार्मिक दृष्टि के प्रधान होने से वर्णन की वह पद्धति प्रयुक्त नहीं हुई, जो वीरगाथापरक रासों ग्रन्थों में मिलती है। इन काव्यों की विषय-वस्तु का मूल सम्बन्ध राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है। रासो काव्यों को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित्र का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित्र भी सम्मिलित करा देते थे। यही कारण है कि इन ग्रन्थों में मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन मिलता है. तथा भाषा में भी उत्तरवर्ती भाषा रूपों की झलक भी पाई जाती है। इसी मान्यता के आधार पर हम रासो ग्रन्थों को आदिकाल का साहित्य स्वीकार करके यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया, जो इस प्रकार है-

खुमाण रासो - दलपति विजय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसको नवीं शताब्दी की रचना माना है, क्योंकि इसमें नवीं शती के चित्तौड़ नरेश खुमाण के युद्धों का चित्रण है। राजस्थान के वृत्त संग्राकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़-नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ की प्रामणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहांलय में सुरक्षित है। यह पाँच हजार छन्दो का विशाल काव्य ग्रन्थ है। राजाओं के युद्धों और विवाहों के सरल वर्णनों से काव्य की भावभूमि का विस्तार हुआ है। सन्दर्भानुसार नायिका भेद, षटऋतु आदि के चित्रण भी मिलते हैं। राजाओं की प्रशंसा काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार की धारा भी आदि से अन्त चली है। वस्तु वर्णनों में पर्याप्त रमणीयता है। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं तथा इसकी

13-11 22-26 31

भाषा राजस्थानी हिन्दी है। राजाओं के वर्णनों पर आधारित होने पर भी इसमें काव्यात्मक सरस वर्णनों का प्राचुर्य है। जैसे-

पिउ चित्तौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।
जौवें बाट बिरहिणी खिण-खिण अणवै खीज॥
सन्देसो पिण सहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पिंज्जरे, छूटव रो सन्देह॥